International Journal of Information Movement Vol.I Issue VIII (December2016)
Website: ijim.in ISSN: 2456-0553 (online) Pages 49-56

जैनेन्द्र एवं शरत्चन्द्र के नारी पात्रों की राजनीतिक जगत में भूमिका

ममता देवी
शोधार्थी, पीएच.डी (हिन्दी)
सिंघानिया विश्वविद्यालय, राजस्थान

शरत्चन्द्र मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार हैं। उनकी नारियां राजनीतिक दृष्टि संपन्न तो कम हैं लेकिन उनमें नारी सुलभ स्नेह और सहयोग तथा कोमलता जैसे गुण जन्मजात हैं जो उन्हें अहिंसक ही सिद्ध करते हैं यथा उनके 'बड़ी दीदी' उपन्यास की माधवी एक ऐसी ही स्त्री है। उसका हृदय प्रारंभ से लेकर अंत तक, हमें अगाध स्नेह से भरा हुआ दिखाई देता है। शरत् के अनुसार नारी और स्नेह एक दूसरे के पर्याय से जान पड़ते हैं। माधवी के वैधव्य ने भी उसे हृदय से कोमल तथा सरल बना दिया है। उसकी ममता का आधार ही सुरेन्द्र को उसके आगामी वर्षों में प्रेरणा देता है। वह उसके नाम तक का सम्मान करने लग जाता है। परंतु माधवी का यह स्नेह असहाय है और इसीलिए बड़ी बहिन का अंत हम दुःखद पाते हैं। वह स्वयं दुखी होकर भी परपीड़ा या अहिंसा का मार्ग नहीं अपनाती। भले ही उसके स्वामी नहीं हैं 'इसलिए उसने फूलों के सब पेड़ कटवा नहीं डाले हैं। अबमीडस में उसी प्रकार फूल खिलते हैं। लेकिन वे जमीन पर गिरकर मुरझा जाते हैं। अब वह उन फूलों की माला पिरोने नहीं बैठती लेकिन फिर भी उन सबको एकत्र करके और उन्हें अंजुली में भर–भर दीन–दुखियों में बांट देती है।[1] जैनेन्द्र भले ही मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार हैं लेकिन राजनीतिक क्षेत्र में भी वे सक्रिय रहे हैं। उन्होंने भारत के स्वतंत्रता संग्राम में सहभागिता की है, उनकी अपनी एक राजनीतिक चिन्तना भी रही है। महात्मा गांधी जी के नेतृत्व में मुक्ति संग्राम में सक्रिय भागीदार रहे हैं। गांधीवादी जीवन–दर्शन और राजनीतिक विचारणा का पर्याप्त प्रभाव उनकी विचारधारा पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वे भी महात्मा जी की भांति सत्य और अहिंसा के उपासक रहे हैं, महात्मा जी की भांति आत्मशुद्धि के सिद्धांत में भी उनका अटूट विश्वास रहा है। उनका आत्मपीड़ावादी दर्शन उसी भावभूमि की उपज है। सत्य के प्रति अविचलित अनुराग ही गांधी जी का सत्याग्रह है जो उनके नारी पात्रों में भरपूर मात्रा में झलकता है।

'त्यागपत्र' की मृणाल, वास्तव में गांधीवादी नीति की सत्याग्रही हैं, जो सामाजिक दृष्टि से स्वयं जलकर लोक को ताप पहुंचाती हुई जागृति देना चाहती है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अपने को कष्ट पहुंचाकर अपने आत्मीयों के अन्याय को ललकारती है। इससे दोनों ओर करूणा उपजती है और लक्ष्य की सिद्धि संभव बनती है। यदि विरोधी पक्ष में किसी प्रकार की आत्मीयता, लोकान्दोलन का भय या अरूणार्द्रता का कोई आधार न हो, तो कोई आत्मपीड़क सत्याग्रह सफल नहीं हो सकता।[2]

मृणाल के हृदय में उस आततायी समाज के प्रति भी करूणा व दया का भाव है जोकि उसे दर–दर की ठोकरें खाने के लिए मजबूर करता है। वह स्वयं टूटकर भी समाज को टूटने से बचाना चाहती है। उसके हृदय में प्रतिशोध की ज्वाला नहीं जलती क्योंकि वह अहिंसक है। उसके अनुसार फअहिंसा युद्ध का वह अमोघ शस्त्र है जोकि हार सकता नहीं और जिसकी विजय प्रतिपक्ष को भी हराती नहीं, जिताती है। यह विजय स्थायी होती है। कारण उससे विरोध दबता नहीं बल्कि जड़ से मिट जाता है।[3] समाज को समरस बचाने का यही उपाय है।

इसी प्रकार से जैनेन्द्र के 'अनामस्वामी' की नायिका वसुंधरा है। वह भी मृणाल की भांति परिताप की ज्वाला में जलती है। इसे आत्मबलिदान की भावना से युक्त परिताप कहा जा सकता है। मृणाल भी आत्मबलिदान की ओर बढ़ती है, किंतु उसमें अहम् है। मृणाल किसी के प्रति समर्पित होना नहीं चाहती, जबकि वसुंधरा उपाध्याय के प्रति समर्पणशील है, उसमें अहम् का भी अभाव है। वसुंधरा का तिल–तिल करके अपने को जलाना, पति द्वारा उपाध्याय के नियोग से पुत्र पाकर मातृ संतोष पाने का विकट सुझाव उसे एक ओर से आघात पहुंचाता है, पतिव्रत दूसरा पहलू है उसके जीवन का और उपाध्याय को शरीर समर्पण तथा उसके द्वारा निरादर पाना तीसरी चोट है। उस अबला पर तीनों ओर के घात प्रतिघातों से वह आत्मपीड़न की शिकार हो गई है। नित्यप्रति तिहरी चोट से आत्महनन करते–करते अन्ततः वह उपाध्याय के हाथों मरना कबूल कर लेती हैं। इसमें लेखक की अहिंसा संबंधी धारणा उभरकर सामने आयी है। लेखकीय मान्यता है फसम्मुख प्रतिकार का रास्ता ही अहिंसा का है। अहिंसा अपने में और अपनी ओर नहीं लौटती, संकट की ओर बढ़ती है। जिसने अपने को शत्रु माना है, अहिंसा उसी को अपना मित्र मानेगी और बनाएगी।'[4]

'अहिंसा अपने अहं को मारने का सुगम साधन है। अहंकार के कारण ही प्रायः समाज में वैर विरोध जन्म लेते हैं। प्रेम संबंधों में तो अहम् ही सबसे बड़ी बाधा है जबकि आत्मविगलन ही संबंधों को सरल बनाता है। वरना जो अहम् की शक्ति से कठोर होकर खड़ा है वह तो खील–खील ही होगा, जो अपने में मात्रा श्रद्धा की शक्ति लेकर इतना सशक्त बना है कि अहंकार के सहारे की जरूरत नहीं है, वह भला कैसे खील–खील होकर बिखर सकता है? क्योंकि वह कठोर है ही नहीं। वह तो प्राण वायु की भांति शून्य है। चट्टान टुकड़े–टुकड़े होकर रहेगी। पर आंधी के टुकड़े कैसे होंगे?[5]

जीवन में कई बार संघर्ष भी अपरिहार्य हो जाता है, वह जीवन की वास्तविकता है। लेकिन जीवन और जगत के इस यथार्थ से बचना चाहते हैं क्योंकि उनका अटूट अनुराग गांधीवादी अहिंसा में है। तभी तो डॉ. मनमोहन सहगल ने सही रेखांकित किया है कि 'जैनेन्द्र उपन्यास को घोर यथार्थ की लीक पर की गई रचना नहीं मानते। यथार्थ जीवन में विपरीत परिस्थितियों के विकट थपेड़ों में सरल चित्त पात्रा भी शायद विद्रोही बन सकता है, किंतु हमारे लेखक (जैनेन्द्र) को वह गवारा नहीं है।'[6]

1.आत्म त्याग और हृदय परिवर्तन :

गांधी जी की यह मान्यता थी कि सत्याग्रही व्यक्ति अधिक से अधिक कष्ट सहन करके या यातना सहकर अपने विरोधी का हृदय परिवर्तन कर सकता है। इसीलिए उन्होंने अनशन और उपवास जैसे धार्मिक या आध्यात्मिक साधन अपनाये हैं। गांधी जी ने अपने इन विचारों या सिद्धांतों का उपयोग राजनीति में किया था। लेकिन जैनेन्द्र जी ने उपन्यास में अपने नारी पात्रों में यही आत्मत्याग व आत्मपीड़ा और हृदय परिवर्तन का दर्शन अपनाया है।

जैनेन्द्र यह मानते हैं कि 'व्यक्ति त्याग और कष्ट सहन के द्वारा दूसरों को सही मार्ग पर ला सकता है– शुद्ध गांधीवाद। उनके विचार में इस नैतिक समस्या का समाधान नारी की स्वतंत्रता में नहीं, उसके पुरूष के सम्मान होने में नहीं, बल्कि कष्ट सहन एवं त्याग के द्वारा अनैतिक पुरूष को नैतिक बनाने में है– गांधीवाद मन–परिवर्तन।'[7] 'सुनीता' उपन्यास की नायिका हरिप्रसन्न के समक्ष आत्म–समर्पण को इसी रूप में देखा जा सकता है। यह उपाय उसके हृदय परिवर्तनार्थ ही अपनाया गया है।

राज्य और समाज : गांधी जी राज्य अथवा सरकार को समाज की सेवक मानते थे इसलिए वे उसके अत्यधिक अधिकार संपन्न होने व सर्वसत्तावादी होने के विरूद्ध थे वे समाज को राज की तुलना में कहीं अधिक स्थायी संस्था स्वीकार करते थे। जैनेन्द्र ने भी अपने 'अनामस्वामी' नामक राजनीतिक दृष्टि वाले उपन्यास और जयवर्धन में भी समाज को राज्य के ऊपर अधिमान दिया है–'राज केवल समाज के हाथ का उपकरण है। राज बनते बिगड़ते हैं। समाज सनातन है और उसकी नीति ध्रुव हैं।.....समाज राज से नहीं चलता, धर्म से, धर्मज्ञ से, धर्मशास्त्र से चलता है धर्म से ही जिससे लोकमत के माध्यम से शासन अनुशासन में रहता है।'[8]

यहां पर निश्चय ही लेखक का आशय धर्म से नैतिकता का या आध्यात्मिकता का है। धर्म के बाह्य उपलक्षणों से कदापि नहीं–कर्मकांड–पूजा, पाठादि से। क्योंकि ये तत्व तो मनुष्यों को बांटने वाले हैं जबकि धर्म का जो मूल तत्व या दर्शन है वही मानव मात्रा के अन्तःकरण को आलोकित करके उसे उज्जवल पथ पर प्रेरित कर सकता है। फिर जैनेन्द्र तो वैसे भी जैन हैं जिसमें अनुशासन या संयम सर्वोपरि है।

राष्ट्रवाद और मानववाद : जिस प्रकार से जैनेन्द्र समाज को राज की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं उसी प्रकार से वे मानव का राष्ट्र से ऊपर या आगे की चीज मानते हैं क्योंकि राष्ट्रों ने मनुष्य को नहीं बनाया है। अपितु मनुष्य ने ही राष्ट्रों और राज्यों जैसी संस्थाओं का विकास अपनी सामुदायिक आवश्यकताओं के अनुरूप किया है। राष्ट्रवाद कई बार विश्व मानवतावाद के मार्ग में बाधक भी बन जाता है। क्योंकि उग्र राष्ट्रवाद को आधार बनाकर कई देशों और जातियों ने अन्य देशों और जातियों का दमन किया है। एक सीमा पर जाकर राष्ट्रवाद भी विश्व बंधुत्व के विरोध में खड़ा हो जाता है।

उग्रराष्ट्रवाद ने मानवता का विभाजन ही किया है। जैनेन्द्र इसीलिए उससे परहेज करते हैं। उनके 'जयवर्धन' उपन्यास का नायक तभी तो कहता है कि फ्जाकर कहो पश्चिम को कि जयवर्धन उनका भी है और दुनिया में वह फांक नहीं चाहता। देखते हो कि मैं राज पर हूं, पर राज का नहीं हूं, मन का हूं। भारत का पक्ष मेरा है, इसे आधा सच ही मानना। मैं मानव हूं और सही तो मानव का पक्ष मेरा है, विश्व का पक्ष दूसरा हो नहीं सकता।[9]

जन–जागरण और विद्रोह की भावना : किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में जनता ही राज्यशक्ति की मूल स्त्रोत होती है। क्योंकि जनतंत्र विचार और बहस की व्यवस्था है इसीलिए उसमें व्यवस्था या सरकार की अव्यवस्था का निवारण करने के लिए जन–जागरण अनिवार्य हो जाता है। इसी को बहुत से विचारक क्रांति भी मानते हैं और उसका माध्यम या साधन वे अनिवार्यतः सशस्त्र विद्रोह को मानते हैं लेकिन जैनेन्द्र ऐसी रक्त रंजित क्रांति के सर्वथा विरूद्ध है। क्योंकि 'शस्त्र के बल से हथियाई हकूमत फिर उन्हीं हथियारों से टूटती है। तलवार से जीने और जीतने वाला उसी से मरता है। राज्यसत्ता के क्षेत्र में जो क्रांतियां की जाती हैं, वे ऐसे ही द्वेष और हिंसा के आधार पर होती हैं।[10]

क्योंकि हिंसा सदैव प्रतिहिंसा को ही जन्म देती है। जैनेन्द्र अहिंसक जन जागृति को ही सच्चा विद्रोह या क्रांति मानते हैं। उनकी सुखदा कहती है– 'हमने काम किया और काम वह मूल था, ऐतिहासिक था। हमने आग जगाई और चिंगारी फूंकी। लेकिन अब दावानल दहकेगा। चिंगारियां चटखाने की जरूरत नहीं। अपने वेग से ही अब वह फैलेगा और दल का नहीं राष्ट्र का अभियान होगा। कोटि–कोटि जनता हुंकार कर उठेगी।[11]

सत्ता परिवर्तन बनाम व्यवस्था परिवर्तन : महात्मा गांधी केवल राज सत्ता के परिवर्तन को ही पर्याप्त नहीं मानते थे उनके अनुसार वास्तविक परिवर्तन या क्रांति व्यवस्था परिवर्तन और समाज परिवर्तन में ही सन्निहित है। वहीं वास्तव में आमूल–चूल परिवर्तन भी वाहक बन सकती है। सत्ता परिवर्तन तो मात्रा व्यक्ति (नेता) परिवर्तन ही है। लेकिन व्यवस्था परिवर्तन तो पूरी की पूरी विचार पद्धति का बदलाव है। जैनेन्द्र की नायिका सुखदा एक सार्वजनिक कार्यकर्मी है। उस पर भी

गांधी जी के रस क्रांतिदर्शन का प्रभुत प्रभाव है। जैनेन्द्र का अभिमत है कि प क्रांति जो असली हो, उसका परिणाम अदल–बदल तक ही सीमित रह जाने वाली मात्र राजकीय क्रांति को सच्चा क्योंकर कह दिया जाये? क्रांति से सामाजिक संबंधों में परिवर्तन आना चाहिए, सामाजिक न्यास की पहले से अधिक प्रतिष्ठा में दिखनी चाहिए। यह फल यदि नहीं है तो राजनीतिक उथल–पुथल से अधिक उसे क्या (क्रांति) कहा जाएगा?

इसी प्रकार से जैनेन्द्र की कल्याणी भी स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय सहभागिता दिखाकर अपनी राजनीतिक भूमिका का प्रदर्शन करती है।

वर्ग–भेद उन्मूलन : महात्मा गांधी का जीवन दर्शन समतामूलक था या समभाव का था, वही उनका सर्वोदयवादी राजनीतिक दर्शन भी था। जिसके अनुसार समाज में सभी लोग राजनीतिक और आर्थिक तथा सामाजिक स्तर पर समान भाव से रहे। क्योंकि विषमता अथवा असमानता तो वर्ग–भेद को ही जन्म देती है। जैनेन्द्र का राजनीतिक चिंतन भी समताकामी है। वे भी समाज से गरीबी और असमानता का उन्मूलन चाहते हैं। तभी तो उनका नायक कामरेड लाल क्रांति की उद्घोषणा करता है–'बच्चे को दूध नहीं मिले, शिक्षा नहीं मिले, खुद पूरी खुराक न ली लाए और कोशिश हो कि संतोष रखे। यह इतना बड़ा झूठा विचार समाज में चला दिया गया है, जो हमारी मध्यम श्रेणी को भीतर से खाये जा रहा है। उफपर से इज्जत रखनी पड़ती है, भीतर से संतोष रखना पड़ता है। द्वन्द्व से जिंदगी पफटी जा रही है।'[12]

इस प्रकार से हम देख सकते हैं कि जैनेन्द्र जी अहिंसक होकर भी समाज में समता के समर्थक हैं और विषमता का समूलोन्मूलन चाहते हैं। उनके उपन्यासों की नायिकाएं भी नायकों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर क्रांतिपथ में अग्रसर होती हैं।

2. व्यक्ति और समाज :

स्वस्थ राजनीति व्यक्ति और समाज के बीच में सामंजस्य स्थापित करती है। वह व्यक्तिवाद व परिवारवाद या भाई–भतीजावाद को प्रोत्साहन नहीं देती। अपितु व्यक्ति को समाज और राष्ट्र के लिए सर्वस्व समर्पण की ही प्रेरणा प्रदान करती है। 'सुखदा' उपन्यास का लाल एक ऐसा विद्रोही चरित्र है जिसकी चिन्तनधारा समाजवादी न होकर भी स्वतंत्र और युग सापेक्ष है। कुछ बातों को वह दूर तक समझता है, विश्लेषण करता एवं उनका सही मूल्यांकन कर सकता है।

क्रांति के द्वारा लांछन लगाए जाने पर वह बड़े साहस के साथ कहता है कि– 'वैयक्तिक नहीं, आज सामाजिक चाहिए, गुण भी वैयक्तिक नहीं, सामजिक चाहिए। इसी से धर्मनीति निर्जीव है, सशक्त समाजनीति है, जो मिलकर राजनीति होती है।'[13]

तात्पर्य स्पष्ट है कि जो राजनीति व्यक्तिवाद को बढ़ावा न देकर राजनीतिज्ञों की निहित स्वार्थी बनकर देशद्रोही और समाज विरोधी न बनाए अपितु समष्टि हित में वे अपना व्यष्टि हित बलिदान कर सके, ऐसा बनाये। क्योंकि राजनीति का कार्य समाज को जोड़ना है, तोड़ना नहीं है।

परिवार और समाज : व्यक्ति और समाज को परस्पर जोड़ने वाली कड़ी का नाम ही परिवार है। वह प्रथम सामाजिक पाठशाला है। जो नेता या सार्वजनिक कार्यकर्ता व्यक्तिवादी होगा वह राजनीति में आकर भी अपने पारिवारिक हितों को प्राथमिकता देता है। क्योंकि वह निहित स्वार्थी होता है। परिवार जहां पर व्यक्ति को सामाजिक नागरिक बनाता है, वहीं पर वह उसे लोभ एवं मोह तथा राग व द्वेष आदि दुर्गुणों से भी दूषित करता है। तभी तो व्यक्ति परिवार के मोह में पड़कर समाज हित को तिलांजलि दे बैठता है। तभी तो जैनेन्द्र के 'सुखदा' उपन्यास का नायक लाल परिवार के स्थान पर मुक्त काम भोग को प्राथमिकता देता है। क्योंकि वह परिवार की संख्या में वैयक्तिकता के अंश के कारण निहित स्वार्थ देखता है। मुक्त प्रेम उसके लिए सामाजिक स्तर का सार्वजनिक गुंठन है, इसको बांध लेना अनाध्यात्म है –'परिवार स्थापित स्वार्थ बनता है और सामाजिकता में गांठ पैदा करता है। हमारी संस्कृति ने हमें परिवार में जड़ दिया है इससे हम बिछुड़ रहे हैं। छोटे–छोटे स्वार्थों के भंवरों में चकराते रह जाते हैं, बढ़ नहीं पाते। राष्ट्र में रहकर इक्ट्ठे नहीं हो पाते।'[14]

3. अर्थ और प्रेम का संघर्ष :

साहित्यिक संवेदना का मूल आधार राग अथवा प्रेम है। जैनेन्द्र के उपन्यासों के नारी पात्रों में वैसे तो प्रेम व स्नेह की ही बहुलता है। अधिकतर स्त्री और पुरूष पात्रों में स्नेह की ही बहुलता है। अधिकतर स्त्री और पुरूष पात्रों में स्नेह के संबंध भी हैं और उसी को लेकर संघर्ष भी है। निसंदेह प्रेम एक स्वर्गिक भाव है लेकिन वह एक काल्पनिक मनः स्थिति ही है। वह भी उदरपूर्ति होने के बाद ही सूझता है। अतः वह मनुष्य मात्र की प्राथमिक आवश्यकता (भौतिक) नहीं है। हां, वह जैविक जरूरत भले ही हो। लेकिन मनुष्य तो भौतिक और सामाजिक स्तर पर भी जीवनयापन करता है, अकेले भावनात्मक स्तर से अपना निर्वाह संभव नहीं है।

अर्थ ही सांसारिक (गृहस्थ) जीवन और जगत (भौतिक) का मूलाधार है। प्रेम संबंधों में भी कहीं न कहीं उसकी स्थिति रहती ही है। तभी तो जैनेन्द्र के उपन्यास 'विवृर्त्त' की भुवनमोहिनी जितेन की मनः स्थिति का आंकलन करती है–'लेकिन तुम प्रेम भी नहीं चाहते। यह प्रेम है जो तुम्हारी आंखों को मेरे अलावा मोटर और बंगला देखने के लिए खाली छोड़ देता है। शायद उन्हीं के लिए तुम मुझे चाहते हो।'[15]

परिवर्तनगामी चेतना : जैनेन्द्र के उपन्यासों का उपजीव्य विषय केवल प्रेम निरूपण ही नहीं है। अपितु अर्थ–दर्शन भी है। लगता है कि सरदार भगत सिंह के क्रांति दर्शन का भी उनके मन मस्तिष्क पर प्रभूत प्रभाव रहा है भले ही वे गांधीवादी और अहिंसावादी रहे हों। तदपि उनका भी मूल मन्तव्य समाज से आर्थिक वैषम्य का उन्मूलन ही है। तभी तो जितेन स्पष्ट कहता है–'तुम लोगों के बढ़प्पन को अपने सिर पर लेकर उन्होंने अपने को नीच बनाया। तुम्हारी ऊंचाई जिनके नीचपन पर टिकी है उनको तो जागना है। उनको जागना और जान लेना है कि यह धोखा है। धमाके की आवाज ही उनके कानों में पहुंचेगी, शास्त्र–उपदेश नहीं। तुम लोग बैठो अपनी अहिंसा को लेकर, चींटियों को बूरा खिलाओ और हार पहनो और कठिन वचन से बचो। हमें कठोरता से ही काम लेना है। ढकोसला बहुत हुआ। लाखों उसके नीचे घायल हुए पड़े हैं। पैसा पूजता है और सभ्यता का छल पफैलता है। तुम्हारी यह दुनिया है। यह दुनिया ज्यादा दिन नहीं रहने पायेगी।[16] यहां पर जितेन का चिंतन परिवर्तनकामी है युवमोहिनी भी उसके मन्तव्यों से सहमत दीख पड़ता है।

धन और धर्म : जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों में कई नायिकाएं साम्यवादी चिंतन से प्रभावित है। उनके अनुसार मानव की मूलभूत आवश्यकताएं भोजन, मकान और शिक्षा है जिनको कार्लमार्क्स ने आधारित रचना बतलाया है। जबकि साहित्य–कला–संस्कृति और धर्म को उसने अधिरचना कहा है। भोजन और मकान शरीर की या मनुष्य मात्र की भौतिक और जैविक आवश्यकताएं हैं तो धर्म और दर्शन उसकी मानसिकता क्षुध को तृप्त करते हैं। धर्म से धन प्राथमिक है क्योंकि उसके बल पर ही धर्म का सारा धंधा खड़ा है। धर्मशास्त्रों में धनवानों को ही शोभा और शुचिता से संपन्न बताया गया है। पूंजीपति ही धर्म–कर्म का पालन कर सकते हैं क्योंकि उनके पास पण्डे पुजारियों को देने के लिए मोटी दक्षिणा में अर्थ है। तभी तो जैनेन्द्र के 'विवृर्त्त' का जितेन कहता है– 'धर्म की ओढ़ी हुई खाल खुल गई है। असलियत उघड़ आई है। असलियत यह है कि नशा देकर दुनिया को बेवकूपफ बनाया गया है। धर्म से धन आता है और धन से धर्म पलता है। इस षडयन्त्र का भंडा फोड़ कर देना है।[17] भुवनमोहिनी भी उसकी वैचारिक सहयात्री है।

धन और श्रम का द्वन्द्व : राजनीति में सदैव श्रम और धन का संघर्ष रहा है क्योंकि श्रमिक जन–किसान और मजदूर अपने परिश्रम का उचित मूल्य उपभोक्ता वर्ग ;पूंजीपतिद्ध से मांगते रहे हैं तो लक्ष्मीपति ने उनके श्रम का अवमूल्यन ही सदा किया है क्योंकि उनके श्रम और वस्तु के बिक्री मूल्य के अंतर से ही तो उसका अतिरिक्त मूल्य व लाभ (मुनाफा) मोटा होता है। जिसके बल पर एक उद्योगपति अपनी पूंजी को निरंतर वर्धमान करता चला जाता है और एक दिन सारी राष्ट्रीय संपत्ति उसी के कुबेर कोष में संचित हो जाती है, जबकि श्रमिक वर्ग सतत शोषण का शिकार रहकर सर्वहारा ही बनता चला जाता है।

जैनेन्द्र के 'विवृर्त्त' उपन्यास का नायक यही तो कहता है– 'सिक्के के हाथ नहीं, श्रम के हाथ सत्ता होनी चाहिए। श्रम सिक्का हो और सिक्का मिट्टी हो, तब है क्रांति बाकी सब सरकार की पूजा है। क्रांति कहते हैं पर करते सरकार की पूजा हैं।'[18] साम्यवादी चिंतन दृष्टि के अनुसार सर्वहारा वर्ग के हाथों में सत्ता की धुरी होने पर ही श्रम और धन का संघर्ष समाप्त हो सकता है। उपन्यास की नायिका भुवनमोहिनी की भी लगभग यही मान्यता है।

समानता की स्थापना : जैनेन्द्र कुमार अपने उपन्यासों में वर्ग–द्वन्द्व के आधार पर वर्ग संघर्ष चलाकर वर्ग भेदोन्मूलन के पक्षधर हैं। यह सब समाज में व्याप्त आकाश और जमीन जितनी गहरी असमानता के उन्मूलन से ही संभव है। जिन लोगों के पास अर्थाधिक्य है अथवा जिनके पास अर्थाजन के समस्त स्त्रोत संचित हैं उन्हीं से कुछ छीनकर साधनहीनों और श्रमिकों में विभक्त करके समाज में सच्ची समता स्थापित की जा सकती है। कहना नहीं होगा कि यह संघर्ष हेबज और हैवनाट्स के मध्य का है। यह द्वन्द्व हिंसात्मक भी हो सकता है और वैधानिक स्तर पर अहिंसात्मक भी।

जैनेन्द्र कुमार के 'विवर्त्त' का नायक जितेन जोकि एक अतृप्त काम मुक्ति का शिकार है और वह अपनी पूर्व प्रेमिका भुवनमोहिनी के प्रति आकृष्ट है। अपितु उसी ने उसको क्रांतिपथ की ओर अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरित किया है।

4. राजशक्ति और जनशक्ति :

जैनेन्द्र गांधीवादी चिंतक और विचारक हैं। महात्मा गांधी राज्य को समाज का उपकरण या अभिकरण भर ही मानते थे। वे उसे समाज का स्वामी न मानकर सेवक ही स्वीकार करते थे। वे राजशक्ति को निरंकुश होने से बचाये रखने के लिए लोकशक्ति का अंकुश अनिवार्य मानते थे। क्योंकि राज्यशक्ति स्थायी नहीं है जबकि लोकशक्ति चिरजीवी है।

महात्मा गांधी में इसी सर्वोदय और समाजवादी स्वरूप को हम जैनेन्द्र के उपन्यासों में देख सकते हैं। 'जयवर्धन' का स्वामी स्वयं गांधी ही प्रतीत होता है जब वह राजसत्ता पर लोकसत्ता को ही अधिक अधिमान देता है–'राज केवल समाज के हाथों का उपकरण है। राज बनते और बिगड़ते हैं, उठते–गिरते हैं। समाज सनातन है और उसकी नीति ध्रुव है। 'समाज राज से नहीं चलता, धर्म से, धर्मज्ञ से, धर्मशास्त्र से चलता है। धर्म ही है जिससे लोकमत के माध्यम से शासन अनुशासन में रहता है।[19]

इतने उदात्त उद्‌गारों के बावजूद यह बात ध्यातव्य है कि जैनेन्द्र के नारी पात्र स्वयं राजनीति में अपेक्षाकृत निस्पन्द और निष्क्रिय हैं। गांधी जी का यह मन्तव्य था कि जनतांत्रिक शासन प्रणाली में राज्य को अपने पास कम से कम अधिकार रखने चाहिए क्योंकि इसके अभाव में सारी शक्तियों का केंद्रीकरण राज्यसत्ता में होने पर यह जन विरोधी और निरंकुश बन जाती है। जबकि जनता के हाथों में जितने अधिक अधिकार होंगे वहां पर लोकतांत्रिक व्यवस्था उतनी ही सुदृढ़ होगी। तभी

तो एक आदर्श शासक के नाते जैनेन्द्र के 'जयवर्धन' का नायक जय स्वयं यह घोषणा करता है कि–फराज्य का उत्तरोत्तर मजबूर और केंद्रित होते जाना मनुष्य के विकास के लिए खतरा बन रहा है.....सच ही मैं चाहता हूं कि शासक लोग जल्दी से जल्दी जितनी सहजता से अपनी आवश्यकता सिद्ध कर सकेंगे उतना अच्छा है।'[20]

जैनेन्द्र के अनुसार शासकों का कार्य अपने ही हाथों में समाज की सारी सत्ता और सम्पदा को संचित रखने के स्थान पर उसका सुसंगत समविभाजन ही है। ताकि समाज का कोई वर्ग बिना मेहनत के भी सर्व सुख सुविधाओं का स्वामी न बने और श्रमिक वर्ग जीवन की मूलभूत सुविधाओं से भी वंचित न रहे। विश्व के सभी महान विचारकों की आदर्श समाज परिकल्पना राज्यविहीनता की रही है। वे राज्य को एक अपरिहार्य बुराई ही मानते रहे हैं। वे चाहे गांधी हो, या कार्लमार्क्स अथवा लेवलालस्टाय अपने आदर्शों की अंतिम परिणति में उन्होंने एक ऐसे राज्यविहीन समाज की संकल्पना की है जिसमें लोग पारस्परिक स्नेह संबंधों और भ्रातृभाव का समाधान कर लेंगे। लेकिन राज्य अभी इसीलिए अस्तित्व में है क्योंकि समाज अभी सांस्कृतिक दृष्टि से उतना सुउन्नत नहीं हुआ है।

जैनेन्द्र कुमार के 'जयवर्धन' का नायक राज्य संस्था के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिन्ह लगता है–'राज्य इसीलिए है और उसका काम इसीलिए है कि हम संभले नहीं हैं। हम संभलेंगे तो राज्य का ही दोष दूर न होगा, बल्कि राज्य के स्वयं दूर होने का उपाय होने लग जायेगा। मूल में तो राज्य एक दोष ही है, वह दबाव है।.....समय आयेगा कि वह काम एक सहयोग संस्था के जरिए हो जाया करेगा। अभी तो वह प्रभुसत्ता है। फिर उसका रूप उतना भीमाकार और डरावना नहीं रह जायेगा।'[21] उपर्युक्त उपन्यास की मान्यता यही मानकर नायक के साथ नायिकाएं सक्रिय सहयोग राजनीति में करती हैं।

राज्य–शक्ति और दण्ड व्यवस्था : जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों की नायिकाएं राज्य शक्ति को अधिक से अधिक कम अहिंसक बनाने की पक्षधर हैं। तभी वे शांतिप्रिय नायकों को ही अपना पति और प्रेमी बनाती हैं। कहना नहीं होगा कि कठोर और क्रुर शासक नारी के कोमल हृदय पर कदापि शासन नहीं कर सकता। उसका तन वह भले ही जीत ले लेकिन उसका मन तो वह नहीं जीत सकता।

जैनेन्द्र जनतंत्र में जनशक्ति के समर्थक होते हुए भी न जाने क्यों प्रजातांत्रिक व्यवस्था में वे विरोध प्रदर्शन के अहिंसात्मक उपायों के भी पक्षधर नहीं हैं। क्योंकि उनके मतानुसार 'उनसे राज्यसत्ता की दमनशीलता और दण्डनीयता का ही औचित्य सिद्ध होता है राज्य के विरोध में होने वाले प्रदर्शनों की धूमधाम और शोर–शराबों से जो अनावश्यक है उसकी ही आवश्यकता मजबूत होती है। हमें उन चेष्टाओं से बचना चाहिए। जितने राज्य की ओर से उदासीन हम रहेंगे और जनशक्ति में स्थान और आस्था रखेंगे उतने हम दण्ड की शक्ति के भरोसे चलने वाले राजतंत्र को अनावश्यक बनाते जा सकेंगे।'[22] लेखक के उपर्युक्त मत से सर्वथा सहमत होना संभव नहीं है। तदपि आंशिक सत्य तो यह है।

राजनीति और मानवीय संबंध : वर्ग विभाजित समाज में राजनीति अथवा राज्य व्यवस्था ही मनुष्य, मनुष्य के मध्य के मानवीय संबंधों को निर्धारित करती है। क्योंकि राज्य संस्था ही किसी समाज के उत्पादन संबंधों में परिवर्तन करती है। यदि राजसत्ता पर श्रमिकों का अधिकार होगा तो वे संबंध अधिक मानवीय होंगे तब मानवीय श्रम बाजार में विक्रय की वस्तु न रहेगी। क्योंकि सेवक और स्वामी के संबंध ही समाप्त हो जाएंगे वैसी स्थिति में पूंजीपति या उद्योगपति और मजदूर के मध्य में बाजारू संबंध नहीं होंगे क्योंकि तब वे सर्वथा स्वतंत्र ही होंगे।

जैनेन्द्र का विश्वास वर्तमान की किसी भी व्यवस्था में नहीं है क्योंकि वे मानवीय श्रम को बाजारू वस्तु नहीं मानते–'उद्यम और उद्योग की स्वतंत्राता में से एक समय पूंजीवाद निकला था। उसमें से समाजवाद निकल आया और वहां से साम्यवाद की राह अधिनायकवाद फलित होता हुआ दिखाई दिया, लेकिन इसलिए यह मानना कि उद्यम और उद्योग की स्वतंत्रता गलत है, जल्दी करना होगा। गलत वह नहीं है, गलती वहां हुई है जहां श्रम और श्रमिकों का बाजार में बिकना हो गया।'[23]

श्रम की स्वतंत्रता : जैनेन्द्र जी के उपन्यासों की नायिकाओं की यह मान्यता है कि मानवीय श्रम सर्वथा स्वतंत्र होना चाहिए। ऐसा केवल मानव स्वभाव में परिवर्तन से ही संभव है। जब तक मानव के मन में लोभ और मोह (आसक्ति) विद्यमान हैं तब तक श्रम की सम्मानजनक स्वतंत्राता संभव नहीं है, इसके लिए जैनेन्द्र पदार्थों की प्रचुरता (उत्पादन) बढ़ाकर समाज के अभाव अभियोग को भी समाप्त कर देना चाहते हैं।

जैनेन्द्र का समाजवाद अपने ही ढंग का है। वे विषमता और वर्ग संघर्ष को राजनीतिक नहीं अपितु मानसिक स्तर पर सुलझाना चाहते हैं। उनके अनुसार, 'आसक्ति से अनासक्ति की ओर बढ़ना ही बढ़ना है। उससे पदार्थ की प्रचुरता कम नहीं होगी, बढ़ेगी, इतनी कि पदार्थ मन को खींचने की शक्ति खो रहे हैं। श्रम इतना स्वेच्छित होगा कि बिक न सकेगा। तब मानव संबंधों को किन्ही उफपरी पफायदों से नियमित करने की आवश्यकता नहीं होगी।'[24]

यह समाधान हमें कोरा वायवी आदर्श ही प्रतीत होता है। क्योंकि श्रमिकों के पास श्रम ही जीवन निर्वाह के लिए एकमात्रा पूंजी है। वह उसके विक्रय और विनिमय से ही जीवित रह सकता है। अनासक्ति आध्यात्मिक मूल्य है राजनीतिक नहीं।

5. राजपद और त्याग भावना :

गांधी जी की भांति जैनेन्द्र कुमार भी राजनीति में पद के स्थान पर त्याग की भावना को कहीं अधिक महत्व देते हैं। 'मुक्तिबोध' उपन्यास के मिस्टर सहाय एक ऐसे ही व्यक्ति हैं जोकि राजपद की तुलना में जनसेवा को वरीयता देते हुए मंत्री पद से त्यागपत्र देते हैं यद्यपि उसके इस निर्णय से उसकी पत्नी और पुत्री तथा राजनीतिक मित्र अप्रसन्न होकर विरोध प्रदर्शन करते हैं। तदपि मिस्टर सहाय के त्याग का आदर्श उदात्त है। तभी तो वे त्यागपत्र के औचित्य को सिद्ध करते हैं।

उनके अनुसार 'ऊंचे लोग राजपद पर जाकर बैठे तो बिना पद वाले क्यों न नीच समझे जाने लगेंगे। इसलिए मुनासिब था कि उफंचे नेता बाहर जनता के बीच आएं और मामूली बन जाएं। कांग्रेस ने इसे माना और आशा की कि ऐसे उसकी साख और शक्ति बढ़ेगी।'[25]

उपर्युक्त संदर्भ को देखकर यही प्रतीत होता है कि वह अखिल भारत वर्षीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा लिया गया कामराज योजना के निर्णय की ही प्रतिध्वनि हैं जिसमें वरिष्ठ नेताओं ने केंद्रीय सरकार के मंत्रीपद त्यागकर जनसेवा का व्रत लिया था।

अहिंसा बनाम आत्मपीड़न : जैनेन्द्र के एकाधिक उपन्यासों में विद्वानों ने आत्मपीड़न का दर्शन खोजने का प्रयास किया है। विशेषकर 'त्यागपत्र' की मृणाल को तो इसी आत्मपीड़न की चक्की में पीसकर उसमें उदात्तता की स्थापना की गई है। जैनेन्द्र जी जैन–दर्शन के अनुयायी हैं, शायद इसीलिए उनके जैन–चिंतन को सम्मुख रखकर आत्मपीड़न को उनके उपन्यासों का विशिष्ट चिंतन पक्ष स्वीकार कर लिया गया है मृणाल, कल्याणी या सुखदा में इसी कारण आत्मशुद्धि के लिए आत्मपीड़न का तत्व देखा जाता रहा है। डॉ. मनमोहन सहगल आत्मपीड़न को एक राजनीतिक दर्शन न मानकर नारी मन को कुंठित अहं से ही जोड़कर देखते हैं। उनके अनुसार क्या आत्मपीड़न सामाजिकता के अनुकूल प्रवृत्ति है? आदि प्रश्न उभरते हैं। वास्तव में जैनेन्द्र जी ने स्पर्दा और समर्पण को मनुष्य की मूल चेतनाएं स्वीकार किया है– 'स्पर्दा का विलय अहंकार एवं समर्पण का समाहार आत्म–त्याग में होता है। आत्मपीड़न जैन दर्शन का अंग जरूर है किंतु इनमें ऐसा कोई तत्व नहीं है जो व्यक्ति में समष्टित्व का बीजारोपण कर सकें।'[26]

राज्य और व्यक्ति–स्वातंत्रय : महात्मा गांधी जी राज्य की शक्तियों को अत्यन्त सीमित ही रखना चाहते थे क्योंकि राज्यशक्ति असीमित अधिकार पाकर निरंकुश और सर्वसत्तावादी बन बैठती है। वैसी स्थिति में वह नागरिकों के सामान्य और मौलिक अधिकारों तक का अपहरण कर लेती है। उस सबसे लोकशक्ति का क्षय होने का भी भय बना रहा है। लोकतंत्रा में लोकशक्ति ही निर्णायक होनी चाहिए।

'अनामस्वामी' में जैनेन्द्र का यह अराजकतावादी चिंतन मुखरित हुआ है। वे राज्य को व्यक्तिगत और सामाजिक संबंधों में राज्यशक्ति को बाधक ही मानते हैं। साधक नहीं–'दो व्यक्तियों के बीच न राज्य को आने का हक है न ईश्वर को। निश्चय ही समाज और सभ्यताओं को मर्यादाओं की आवश्यकता होती है। लेकिन उसके बंद खजाना मानव जीवन की कृतार्थता नहीं गिनी जायेगी।

जैनेन्द्र स्त्री और पुरूष के प्रेम संबंधों में भी राज्य सत्ता का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करते। लेकिन नारी और पुरूष के मध्य में होने वाले अवैध संबंधों अथवा बलात्कार जैसी परिघटनाओं में तो राज्य का हस्तक्षेप अपरिहार्य ही है।

परिवार और देश सेवा : जैनेन्द्र की भांति शरत्चन्द्र भी नारी को सार्वजनिक क्षेत्र में लाने के पक्षधर हैं। यद्यपि उनकी नारियां राजनीति की तुलना में पारिवारिक भूमिका का निर्वाह ही अधिकांश में करती हैं। तदापि 'पथेर–दाबी' जैसे उपन्यास की नायिका भारती एक सक्रिय क्रांतिकारी हैं। सुमित्रा भी एक ऐसी नारी है जो घर–परिवार के बंधनों में बंधने की बजाय भारत माता की बन्ध श्रृंखलाओं को काटने में ही अपना कल्याण देखती हैं। वह देश सेवा को पति सेवा से कहीं अधिक अधिमान देती हैं– 'स्त्री पति के साथ नहीं रहना चाहती, देश की सेवा करना चाहती है इसमें अन्याय की कोई बात नहीं दिखाई देती।'[27] वह कहती है कि देश से बढ़कर मेरे लिए कुछ भी नहीं है। यद्यपि ऐसा निर्णय हजारों में से कोई एकाध स्त्री ही ले सकती है। जबकि क्रांतिकारी युवक अधिकांशतया अविवाहित थे। लेकिन नारियों को भारतीय परिवारों में यह सुविधा सहज सुलभ नहीं रहती है। क्योंकि स्त्री को घर–परिवार की परिधि में ही हमारे शास्त्रकारों और नीतिकारों ने बांधकर रखा है। राजनीति जैसा सार्वजनिक क्षेत्र आज तक भी महिलाओं के लिए उतना उन्मुक्त नहीं है जितना कि वह होना चाहिए।

राष्ट्रीयता और मानव प्रेम : शरत्चन्द्र के उपन्यास 'पथ के दावेदार' की भारती का हृदय अत्यन्त कोमल, उदार एवं मानवता का प्रेमी है। उसके हृदय में राष्ट्रीयता घर कर गयी है। परंतु इस राष्ट्रीयता के बावजूद उसके मन में किसी जाति या मत के प्रति विद्वेष की भावना नहीं है। राष्ट्रीयता के उफपर भी मानवता का आदर्श उसके लिए अधिक ग्राह्य है। इसीलिए नारी जाति के विरूद्ध किसी का भी विद्वेष उसे अत्यन्त व्यथित कर देता है।

जब उसका क्रांतिकारी साथी सव्यसाची सारी अंग्रेज जाति की अत्यन्त कटु शब्दों में निंदा करने लगते हैं तो भारती के लिए यह असहाय हो उठता है। उसके विशाल हृदय में इस प्रकार की संकीर्णताओं और संकुचित वृत्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है। उसके निकट देश से भी बढ़कर मनुष्य है एक ओर वह अंग्रेज शोषकों को भारत से निकालना चाहती है, पर दूसरी ओर वह इस विदेशी जाति द्वारा किये गये उपकारों को भुला भी नहीं देती। सव्यसाची के सम्मुख उसे चेतावनी सी देती हुई वह कहती है–'हृदय में इतना विद्वेष भरकर तुम अंग्रेजों का नुकसान शायद कर भी सको, पर उससे भारतवासियों का कल्याण नहीं होगा यह निश्चय समझ लेना।'[28]

हिंसा का विरोध :

शरत्चन्द्र जैनेन्द्र की भांति विशुद्ध गांधीवादी तो नहीं है क्योंकि उन्होंने 'पथ के दावेदार' में क्रांतिकारियों का ही समर्थन किया है। सव्यसाची ही एक प्रकार से उनके लिए भगत सिंह की सशस्त्र क्रांति का आदर्श हैं। भारती क्रांतिकारी पथ में उसकी सहयात्री है तदापि वह हिंसा का विरोध ही करती है। हां वह क्रांति की पक्षधर भी है। वह सव्यसाची को रक्त–रंजित क्रांतिपथ से विरत करने की गरज से ही तो उसे कैपफीयत देती है–'भैया, तुम्हारा चुना हुआ यह खून–खराबी का रास्ता किसी भी तरह ठीक नहीं है। अतीत की चाहे जितनी नजीरें तुम दिखाओ, मानव जीवन में यह विधान हरगिज सत्य नहीं हो सकता कि जो अतीत है, जो बीत चुका है, हमेशा सिर्फ वही छाती ठोक कर अनागत को नियंत्रित करेगा। तुम्हारा मार्ग ठीक नहीं है यह, फिर भी तुम्हारी सब विसर्जन कर देने वाली इस देश की सेवा को ही मैं सिर–माथे पर लेती हूं।'[29]

हिंसात्मक सशस्त्र क्रांति से असहमत होते हुए भी वह सव्यसाची के दल में सक्रिय रहती हैं, यह उसके हृदय में चल रहे राष्ट्रीयता और अहिंसा के द्वन्द्व का ही परिणाम है।

6.राजनीति और जनकल्याण :

शरत्चन्द्र के 'पथेर दाबी' की नायिका भारती जन सेवा को ही देश सेवा मानती है। उसका विश्वास काल्पनिक आदर्शों वाली क्रांति में नहीं है। कोरी शाब्दिक या बौद्धिक क्रांति में उसकी कोई रूचि नहीं है। वह समाज सेवा और जनकल्याण के रचनात्मक कार्यकलापों को भी क्रांति कर्म का एक अनिवार्य अंग मानती है। क्योंकि उनकी दृष्टि में मनुष्य से बढ़कर कुछ भी नहीं है। उसके दैन्य और दुखों को दूर करने से श्रेयस्कर वह भी नहीं मानती है। जब उनका एक साथी डाक्टर आदमी को जानवर कहकर संबोधित करता है तो भारती के अंदर का मानव पुकार उठता है–'कारखानों के मजदूर मिस्त्रियों की हालत तो मैं अपनी आंखों से देख आया हूं। उनका पाप, उनकी कुशिक्षा, उनकी पशु जैसी अवस्था इनमें से किसी का भी इंच मात्र प्रतिकार अगर जिंदगी भर में कर सकी तो उससे बढ़कर सार्थकता और क्या हो सकती है।'[30] इस सबको हम गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम का भी अंग समझ सकते हैं। क्योंकि गांधी जी नर (जन) सेवा को ही नारायण सेवा कहा करते थे।

7.क्रांति और करूणा एक साथ :

भारती शरत्चन्द्र साहित्य की एक ऐसी नारी पात्र हैं जिसमें क्रांति–कारिता और करूणा का एक साथ मणिकांचन समावेश है। निर्दयता या नृशंसता के किसी भी कार्यक्रम से वह सहमत नहीं रहती। यहां उसके हृदय पर परम वैष्णव शरत् की मान्यताओं का कितना गहरा प्रभाव है यह बताने की आवश्यकता नहीं। वह कोमल मन उसे उपन्यासकार की परंपरागत नायिकाओं से विरासत के रूप में मिला है। अपनी इस कोमलता की रक्षा के लिए वह 'अधिकार–समिति' छोड़ने तक को प्रस्तुत हो जाती है क्योंकि उसके सदस्य बड़े भयंकर और निर्दयी हैं। यहां तक कि अपने सबसे बड़े श्रेद्धेय सव्यसाची से भी वह निर्भीकतापूर्वक मतभेद प्रकट करती है वह सव्यसाची को भी हिंसात्मक क्रांति धर्म से विरत रहने का अनुरोध करती है–'भगवान के इतने बड़े सत्य पर पहुंचने निष्ठकुर मार्ग के सिवा और कोई मार्ग खुला ही नहीं है यह मैं किसी तरह भी नहीं सोच सकती–निष्ठुरता के इस बार–बार चले हुए मार्ग से तुम अब मत चलो। वह द्वार शायद आज भी बंद होगा, लोगों के लिए उसे तुम खोल दो, जिससे हम लोग इस संसार में सभी से प्रेम करते हुए उस मार्ग का अनुसरण करते रहें।'[31] इस प्रकार से भारती के सजल चरित्र में क्रांति और करूणा का दुर्लभ संयोग हुआ है।

8.संदर्भ सूची :

1. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, शरत् के नारी पात्र, पृ. 20
2. डॉ. मनमोहन सहगल, उपन्यासकार जैनेन्द्र मूल्यांकन और मूल्यांकन, पृ. 45
3. जैनेन्द्र कुमार, समय, समस्या और सिद्धान्त, पृ. 101
4. जैनेन्द्र कुमार, अनामस्वामी, पृ. 75
5. वही, सुनीता, पृ. 169
6. डॉ. मनमोहन सहगल, उपन्यासकार जैनेन्द्र मूल्यांकन और मूल्यांकन, पृ. 47
7. एन.एस. गणेशन, हिन्दी उपन्यास का अध्ययन, पृ. 198
8. जैनेन्द्र कुमार, जयवर्धन, पृ. 170
9. जैनेन्द्र कुमार, जयवर्धन, पृ. 19
10. वही, सुखदा, पृ. 118
11. वही, पृ. 177
12. जैनेन्द्र कुमार, समय, समस्या और सिद्धान्त, पृ. 262
13. वही, सुखदा, पृ. 102
14. जैनेन्द्र कुमार, सुखदा, पृ. 102
15. जैनेन्द्र कुमार, सुखदा, पृ. 113
16. जैनेन्द्र कुमार, विवर्त्त, पृ. 14–15

17. वही, पृ. 87–88
18. जैनेन्द्र कुमार, विवर्त्त, पृ. 86–87
19. वही, पृ. 140
20. जैनेन्द्र कुमार, विवर्त्त, पृ. 70
21. वही, पृ. 217
22. जैनेन्द्र कुमार, जयवर्धन, पृ. 224–225
23. वही
24. जैनेन्द्र कुमार, जयवर्धन, पृ. 64
25. जैनेन्द्र कुमार, जयवर्धन, पृ. 261–262
26. वही, मुक्तिबोध, पृ. 12
27. डॉ. मनमोहन सहगल, उपन्यासकार जैनेन्द्र मूल्यांकन और मूल्यांकन, पृ. 274–275
28. शरत्चन्द्र, पथ के दावेदार, पृ. 162
29. शरत्चन्द्र, पथ के दावेदार, पृ. 170
30. शरत्चन्द्र, पथ के दावेदार, पृ. 162
31. वही, पृ. 165